वाजसनेयि-संहिता में प्रयुक्त उभयपदप्रधान और मत्वर्थीय समास

डॉ0 निशा गोयल
एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
कालिन्दी महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

शोधसार

वाजसनेयि-संहिता ही शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है, जिसके प्रवर्तक ऋषि याज्ञवल्क्य माने जाते हैं। शुक्ल यजुर्वेद संहिता में केवल मन्त्रों का ही संग्रह है, उनका विनियोग बताने वाले ब्राह्मण भाग का मिश्रण इस संहिता में नहीं है, अतः शुद्ध होने के कारण इसे 'शुक्ल' संज्ञा प्राप्त है। यज्ञ एक शुभ कर्म है और शुभ वस्तुओं के लिए पवित्र वर्ण श्वेत का प्रयोग होता है, इसलिए भी इस संहिता का नाम शुक्ल यजुर्वेद है। इस वाजसनेयि-संहिता में 40 अध्याय और 1975 मन्त्र हैं।

समास शब्द सम् पूर्वक 'असु क्षेपणे' धातु से भाव में घञ् प्रत्यय लगकर बनता है, जिसका अर्थ है- संक्षेप। समसनम् इति समासः अर्थात् एक साथ या पास-पास रखना। प्रत्येक संक्षेप को समास नहीं कहते, अपितु जब दो या दो से अधिक पद मिलकर एक हो जाते हैं, तो उसे समास कहते हैं। वेद में समास के 6 भेद माने गए हैं, जिनमें से उभयपदप्रधान और मत्वर्थीय समास का वर्णन इस शोधपत्र में किया गया है।

शोध शब्द- वाजसनेयि प्रातिशाख्य, वाजसनेयि-संहिता, पाणिनीय अष्टाध्यायी

भूमिका-भारतीय परम्परा में वेद प्राचीनतम और सर्वाधिक पवित्र माने जाते हैं। द्वितीय यजुर्वेद अध्वर्यु नामक ऋत्विक् से सम्बन्धित है, क्योंकि यज्ञ का सम्पूर्ण क्रियात्मक अनुष्ठान अध्वर्यु द्वारा ही होता है, अतः यह अध्वर्यु जिस वेद के मन्त्रों का प्रयोग करता है, वह यजुर्वेद है।

यजुर्वेद के विभाजन की दृष्टि से महाभाष्यकार पतंजलि ने यजुर्वेद की 101 शाखाओं का उल्लेख किया है- '**एकशतमध्वर्युशाखाः**'। वाजसनेयि-संहिता शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है जिसके प्रवर्तक ऋषि याज्ञवल्क्य माने जाते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद संहिता में केवल मन्त्रों का ही संग्रह है, उनका विनियोग बताने वाले ब्राह्मण भाग का मिश्रण इस संहिता में नहीं है, अतः शुद्ध होने के कारण इसे 'शुक्ल' संज्ञा प्राप्त है। यज्ञ एक शुभ कर्म है और शुभ वस्तुओं के लिए पवित्र वर्ण श्वेत का प्रयोग होता है, इसलिए भी इस संहिता का नाम शुक्ल यजुर्वेद है। इस वाजसनेयि-संहिता में 40 अध्याय और 1975 मन्त्र हैं।

समास शब्द सम् पूर्वक 'असु क्षेपणे' धातु से भाव में घञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है- संक्षेप। **समसनम् इति समासः** अर्थात् एक साथ या पास-पास रखना। संक्षेप या संक्षिप्तीकरण शब्द व्याकरण में योगरूढ या पारिभाषिक माना जाता है, अतः प्रत्येक संक्षेप को समास नहीं कहते, अपितु जब दो या दो से अधिक पद मिलकर एकपद हो जाते हैं, तो उसे समास कहते हैं। समास हो जाने पर उन समस्यमान पदों की प्रायः अपनी-अपनी विभक्तियाँ लुप्त हो जाती हैं, परन्तु उनका अर्थ रहता है, पुनः उस समस्तपद को एकपद मानकर नई विभक्ति

©Indira Gandhi National Open University

आती है और तब उस विभक्तिसहित वह समस्तपद सम्पूर्ण होकर एकपद बन जाता है। अतः समास का लक्षण संस्कृत वैयाकरणों द्वारा सामान्यतः यही किया जाता है-

विभक्तिर्लुप्यते यत्र तदर्थस्तु प्रतीयते।
पदानां चैकपद्यं स समासः सोऽभिधीयते।।

परन्तु अलुक् समास में, जहाँ अन्तर्वर्तिनी विभक्तियों का लोप नहीं होता है, जैसे- युधिष्ठिरः, कण्ठेकालः आदि पदों में, वहाँ समास होने पर या न होने पर कोई अन्तर नहीं पडता अर्थात् संक्षेप तो होता ही नहीं, साथ ही समास का अर्थात् एकपद बनने का भी प्रयोजन न होने पर उसकी उपयोगिता वेद में दृष्टिगोचर होती है क्योंकि जब दो या अनेक पद मिलकर एक हो जायेंगे तो उस समस्तपद पर एक उदात्त स्वर होगा, शेष सब का सब अनुदात्त हो जायेगा, जबकि समास न होने तक की स्थिति में पृथक्-पृथक् प्रत्येक पद पर एक उदात्त स्वर होता है, अतः समास का प्रयोजन एकपद और एकस्वर होना माना जाता है, परन्तु यह ऐकस्वर्य और ऐकपद्य दानो ही वेद में सापवाद हैं, क्योंकि कभी-कभी समास के पदों में पदान्तरों का व्यवधान भी दृष्टिगोचर होता है, जैसे- नराशंसम् के स्थान पर 'नरा वा शंसम्', और ऐसा तभी होता है जब समास के दोनों पद उदात्त होते हैं।

वाजसनेयि-प्रातिशाख्यकार ने वैदिक शब्दराशि को तिङन्त, कृदन्त, तद्धित और चार समासों के रूप में अवस्थित बताया है-

तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः शब्दमयम्[1]

अष्टाध्यायीकार ने परिभाषा-सूत्र में स्वव्याकरणशास्त्र में श्रूयमाण पदविधि को समर्थ बताया है और यह पदविधि समास, तद्धित, नामधातु आदि विधियों के पदसम्बन्धी होने के कारण उनमें होती है। सामर्थ्य के दो भेद होते हैं - व्यपेक्षाभावसामर्थ्य और एकार्थीभावसामर्थ्य। वाक्य में व्यपेक्षाभावसामर्थ्य होता है, क्योंकि इसमें पद परस्पर अपेक्षा रखते हैं, जैसे- "राज्ञः पुरुषः" में राजा पुरुष की अपेक्षा करता है और पुरुष राजा की। परन्तु समास में एकार्थीभाव रूप सामर्थ्य होता है। एकार्थीभाव का अर्थ है- मिलकर एक अर्थ को कहना। पृथक्-पृथक् अवस्थित भिन्न-भिन्न अर्थों वाले पदों की समास में साधारणार्थता अर्थात् साधारण अर्थ वाला होना एक अवस्था-विशेष है और इसे ही एकार्थीभाव कहा जाता है। यह वाक्य में नहीं होती, क्योंकि वाक्य में सबका अर्थ अलग-अलग ही होता है। इस एक परिभाषा-सूत्र में पदविधि अर्थात् समास को समर्थ बताते हुए अष्टाध्यायीकार ने **'कडाराः कर्मधारये'**[2] सूत्र से पहले तक समास का अधिकार बताया है और समास संज्ञा को महती होने पर भी अन्वर्थक माना है तथा इस समास संज्ञा के अन्तर्गत ही इसके साथ-साथ अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि आदि संज्ञाओं का भी समावेश हो जाता है-

समर्थः पदविधिः।
प्राक्कडारात्समासः।[3]

संस्कृत वैयाकरणों द्वारा मुख्यतः समास को चार प्रकार का बताया गया है-

1. **अव्ययीभाव समास-** इसमें प्रायः पूर्वपद अव्यय होता है और उत्तरपद अनव्यय, परन्तु जब वह समस्त हो जाता है , तब अव्यय बन जाता है , अतः इस समास में प्रायः प्रथम पद के अर्थ की प्रधानता होती है।

2. **तत्पुरुष समास-** इसमें द्वितीया से सप्तमी तक जिस-जिस विभक्त्यन्त का उत्तरपद के साथ समास का विधान किया जाता है, वह तत्पुरुष समास उसी विभक्ति के नाम से, जैसे- द्वितीया तत्पुरुष, तृतीया तत्पुरुष आदि व्यवहृत होता है। इस समास में प्रायः उत्तर अर्थात दूसरे पद के अर्थ की प्रधानता होती है। इसी

©Indira Gandhi National Open University

तत्पुरुष का एक भेद होता है- कर्मधारय, जिसमें दोनों पद एक ही अधिकरण को कहते हैं। इसी कर्मधारय में जब पहला पद संख्यावाचक होता है, तो उसे द्विगु समास कहते हैं।

3. **बहुव्रीहि समास-** इसमें समस्यमान पदों से भिन्न तत्सम्बद्ध किसी अन्य पद के अर्थ की ही प्रायः प्रधानता होती है। इस समास के समस्यमान पद उस अन्य पद के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

4. **द्वन्द्व समास-** इसमें दोनों पदों के अर्थों की प्रायः प्रधानता होती है।

इन चारों समासों का वर्गीकरण एक कारिका के माध्यम से भी किया गया है-

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाऽथ तिङां तिङा।
सुबन्तेनेति च ज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः।।

वेद में इन समासों को तद्गत पदों के परस्पर सम्बन्ध के आधार पर तीन प्रधान और तीन अप्रधान प्रकार से बताया गया है-

1. उभयपदप्रधान या वह समास, जिसमें समास करने वाले पद समान रूप में प्रधान होते हैं,
2. सम्बन्धावच्छेदक या वह समास, जिसमें पूर्वपद उत्तरपद का अवच्छेदन करता है अथवा उसे विशिष्ट करता है,
3. मत्वर्थीय या विशेषणात्मक, जिनका साधारण अर्थ तद्वत्ता होता है,
4. नियामक समास या विशेषण, जिनमें पूर्वपद अर्थ की दृष्टि से उत्तरपद का नियमन करता है,
5. वाक्यरचनानिर्भर समास या वाक्य में दो शब्दों के सन्निकर्ष के कारण होने वाली अनियमित रचना,
6. द्विरुक्त पदरूप या संहिताओं में समस्त रूप से व्यवहृत द्विरुक्त शब्द, क्योंकि उनमें एक ही उदात्त होता है और इस प्रकार सहोच्चारित हो जाने पर उनका एक विशिष्ट अर्थ हो जाता है।

उभयपदप्रधान या द्वन्द्व समास में दो या अधिक पद 'च' (और) से संयुक्त होकर समस्तपद की रचना करते हैं। ये समस्यमान पद मुख्यतया विशेष्य होते हैं तथा कहीं-कहीं विशेषण भी हो सकते हैं। वाजसनेयि-संहिता में अधिकतर देवताद्वन्द्व के उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिनमें समास का प्रत्येक पद द्विवचनान्त होता है और दोनों पदों में पृथक्-पृथक् उदात्त स्वर होते हैं, यथा-

आविर्मर्या आवित्तो अग्निर्गृहपतिरावित्त इन्द्रो वृद्धश्रवा आवित्तो
मित्रावरुणो धृतव्रतावावित्तः पूषा विश्ववेदो आवित्ते
द्यावापृथिवी विष्वशम्भुवावावित्तादितिरुरुशर्मा।।[4]

©Indira Gandhi National Open University

प्रस्तुत मन्त्र के 'मित्रावरुणौ=मित्रश्च वरुणश्च' तथा 'द्यावापृथिवी=द्यौश्च पृथिवीश्च' पदों में मित्र और वरुण तथा द्यावा और पृथिवी में क्रमशः 'त्रा, व, द्या, वी' पर उदात्त स्वर प्राप्त होता है।

परन्तु इन समान रूप से प्रधान द्विवचनान्त पदों की सत्ता बहुत प्राचीन काल से ही एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में समझी जाने लगी थी, इसलिए पूर्वपद का साधारणतम प्रत्यय, जो प्रथमा या द्वितीया विभक्ति का हो, दूसरी विभक्तियों में भी अपरिवर्तित ही रखा जाने लगा, जैसे- अग्नीषोमाभ्याम् (1.10), अग्नीषोमयोः (1.22), मित्रावरुणाभ्याम् (7.9) मित्रावरुणयोः (6.24), द्यावापृथिवीभ्याम् (7.21), द्यावापृथिव्योः(20.10) आदि।

व्रतं च म ऋतवश्च मे तपश्च मे संवतसरश्च मेऽहोरात्रे
ऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।।[5]

प्रस्तुत मन्त्र के 'अहोरात्रे=अहश्च रात्रिश्च, ऊर्वष्ठीवे=ऊरु च अष्ठीवन्तौ च, बृहद्रथन्तरे=बृहत् च रथन्तरं च' के अन्त्य अक्षर 'त्रे, वे रे' पर उदात्त स्वर की प्राप्ति होती है।

कुछ अन्य स्थलों पर बहुवचनान्त द्वन्द्व की प्राप्ति होती है, जो समुदाय युगल का अभिधान करते हैं। इनमें पूर्वपद अपने रूप में होता है और उत्तरपद का अन्तिम अक्षर उदात्त होता है-

अर्धमासाः परूंषि ते मासा आ च्छ्यन्तु शम्यन्तः।
अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टं सूदयन्तु ते।।[6]

प्रस्तुत मन्त्र के उत्तरार्ध के प्रथम पद 'अहोरात्राणि=अहश्च रात्रिश्च' में पूर्वपद 'अह' अपने रूप में ही तथा उत्तरपद 'रात्रि' पद का 'रात्र' होकर 'त्रा' पर उदात्त स्वर आ जाता है।

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः। अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवं शग्मं शंयोः शंयोः।।[7]

प्रस्तुत मन्त्र के 'अजावयः=अजाश्च अवयश्च' में अन्तिम अक्षर 'व' पर उदात्त स्वर आ जाता है।

वाजसनेयि-संहिता में एकवचनान्त समाहारवाचक और नित्य नपुंसक के उदाहरण अतिविरल प्राप्त होते हैं। इनका भी अन्त्य अक्षर उदात्त होता है-

वायव्यैर्वायव्यान्याप्नोति सतेन द्रोणकलशम्।
कुम्भीभ्यामम्भृणौ सुते स्थालीभि स्थालीराप्नोति।।[8]

प्रस्तुत मन्त्र के की प्रथम पंक्ति का अन्तिम पद 'द्रोणकलशम्=द्रोणश्च कलशश्च' एकवचनान्त है तथा इस पद का अन्तिम अक्षर 'श' उदात्तस्वरयुक्त है।

इन उभयप्रधान देवताद्वन्द्व में से द्विवचनान्त विशेष्यों में एक अवशिष्ट रहता है और दूसरा लुप्त हो जाता है, परन्तु अर्थ दोनों का लिया जाता है-

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक्।।[9]

©Indira Gandhi National Open University

प्रस्तुत मन्त्र के पूर्वार्ध के 'पितरौ= माता च पिता च' में माता और पिता का अर्थ संयुक्त होने पर भी प्रयोग में मात्र एकपद 'पितरौ' ही लिया जाता है।

पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे।।[10]

जिस प्रकार 'माता च पिता च' से 'पितरौ' पद बनता है, उसी प्रकार वेद में 'मातरौ' पद भी प्राप्त होता है। इस मन्त्र के उत्तरार्ध का 'मातरा' पद इसी बात की पुष्टि कर रहा है।

इसके अतिरिक्त कुछ द्वन्द्व में विशेषण की प्राप्ति होती है-

पृथिव्यै स्वाहाऽन्तरिक्षाय स्वाहा दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा चन्द्राय
स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाऽद्भ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः
स्वाहा परिप्लवेभ्यः स्वाहा चराचरेभ्यः स्वाहा सरीसृपेभ्यः स्वाहा।।[11]

प्रस्तुत मन्त्र के 'चराचरेभ्यः=चरश्च अचरश्च, तेभ्यः' में चर और अचर दोनों विशेषण हैं। इन दोनों विशेषणों में दोनों पद प्रधान हैं और 'च' का अर्थ भी इनमें समाविष्ट है और ये विरोध को प्रकट करते हैं, अतः ये समस्त हो जाते हैं और इनके अन्तिम पद 'रे' पर उदात्त स्वर आ जाता है।

अष्टाध्यायीकार ने द्वन्द्व समास के लिए एक सूत्र प्रस्तुत किया है-

चार्थे द्वन्द्वः।[12]

पाणिनि के अनुसार 'च' के चार अर्थ होते हैं- समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतर योग और समाहार, जिनमें से प्रथम दो अर्थों में सामर्थ्य अर्थात् एकार्थीभाव न होने से समास नहीं होता और अन्तिम दो अर्थों में एकार्थीभाव रूप सामर्थ्य रहने से समास हो जाता है, जिसकी वैयाकरणों द्वारा द्वन्द्व संज्ञा की गई है। इसमें दो या दो से अधिक पद मिलकर एक हो जाते हैं और वे सब ही विशिष्ट होते हैं। वे या तो विशेष्य होते हैं या विशेषण।

मत्वर्थीय या विशेषणात्मक (बहुव्रीहि), जिनका साधारण अर्थ तद्वत्ता होता है, में प्रायः समस्यमान पदों से भिन्न तत्सम्बद्ध किसी अन्य पद के अर्थ की ही प्रधानता होती है, इसीलिए यह पदरूप एवं पदक्रम की दृष्टि से तो कर्मधारय और तत्पुरुष के समान ही होता है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से भिन्न होता है और यह उस अन्य पद का विशेषण होता है। स्वर की दृष्टि से भी यह कर्मधारय और तत्पुरुष से भिन्न होता है, क्योंकि इसमें उदात्त स्वर पूर्वपद पर होता है, जबकि कर्मधारय और तत्पुरुष में उत्तरपद पर। इस मत्वर्थीय को पाणिनि आदि वैयाकरणों ने बहुव्रीहि समास बताया है।

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमं राजानमोषधीष्वप्सु।
ता अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा।।[13]

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय।
वाचं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनं स्वाहा।।[14]

©Indira Gandhi National Open University

इन दोनों मन्त्रों में क्रमशः 'मधुमतीः=प्रशस्ता मघवो विद्यन्ते यासु ताः' और 'सरस्वतीम्=बहुविधं सरो विद्यते यस्यास्ताम्' में मतुप् प्रत्यय का अर्थ समाविष्ट होने से ही सम्भवतः इसका नामकरण मत्वर्थीय समास किया गया है। ये मत्वर्थीय दो प्रकार के होते हैं- कर्मधारय मत्वर्थीय, जिनमें कि पूर्वपद कोई गुणवाचक विशेषण (जिसमें निपात भी समाविष्ट हैं), कोई समानाधिकरण विशेष्य या कोई क्रियाविशेषण (जिसमें निपात और उपसर्ग भी समाविष्ट होते हैं)-

शर्मास्यवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु।
अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावाऽसि पृथुबुध्नः प्रति त्वाऽदित्यास्त्वग्वेत्तु।।[15]

प्रस्तुत मन्त्र का 'पृथुबुध्नः=पृथु बुध्नं यस्य सः' पद परवर्ती ग्रावा का विशेषण है, जिसमें 'पृथु' गुणवाचक है तथा 'थु' पर उदात्त स्वर होता है, अतः यह कर्मधारय मत्वर्थीय कहलाता है।

निवेशनः संगमनो वसूनां विश्वा रूपाऽभि चष्टे शचीभिः।
देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम्।।[16]

प्रस्तुत मन्त्र के उत्तरार्ध में स्थित 'सत्यधर्मा=सत्यो धर्मो यस्य सः' पद सविता का समानाधिकरण विशेष्य है।

अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि
दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्या अविषं नः पितुं कृणु सुषदा योनौ
स्वाहा वाड्ग्नये संवेशपतये स्वाहा सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा।।[17]

प्रस्तुत मन्त्र के 'प्रसित्यै=प्रकृष्टा चासौ सितिः यस्यां तस्याः, दुरिष्ट्यै=दुष्टा इष्टिः यस्यां तस्याः, दुरद्मन्यै=दुष्टा अद्मनी यस्यां तस्याः और सुषदा=सुखेन सीदन्ति यस्यां तस्याम्' पदों में प्र, दुर्, सु उपसर्ग क्रियाविशेषण है तथा प्रत्येक पद के पूर्वपद में उदात्त स्वर दृष्टिगोचर हो रहा है।

समानाधिकरण कर्मधारय पर आधारित कुछ बहुव्रीहि समासों में पूर्वपद की उत्तरपद से तुलना अभिप्रेत होती है-

विश्वे देवाः शृणुतेमं हवं मे ये अन्तरिक्षे य उप द्यविष्ठ।
ये अग्निजिह्वा उत वा यजत्रा आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वम्।।[18]

प्रस्तुत मन्त्र के उत्तरार्ध के 'अग्निजिह्वाः=अग्निः जिह्वावत् येषां ते' में पूर्वपद अग्नि को जिह्वा के समान बताया गया है।

अतिशयार्थक ज्येष्ठ (प्रधान) तथा श्रेष्ठ (उत्तम) तुलनार्थक भूयस् (और अधिक) तथा पर (उच्चतर) मत्वर्थीयों के उत्तरपद में विशेष्य के रूप में प्रयोग किये जाते हैं-

अस्मे रुद्रा मेहना पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः।
यः शंसते स्तुवते धायि पज्र इन्द्रज्येष्ठा अस्माँ2 अवन्तु देवाः।।[19]

प्रस्तुत मन्त्र के उत्तरार्ध के 'इन्द्रज्येष्ठाः=इन्द्रो ज्येष्ठो येषां ते' का उत्तरपद 'ज्येष्ठ' विशेष्य के रूप में प्रयुक्त है।

तत्पुरुष मत्वर्थीयों में पूर्वपद द्वितीयार्थक, तृतीयार्थक, षष्ठ्यर्थक तथा सप्तम्यर्थक होता है और कहीं-कहीं इनका अलुक् भी होता है-

©Indira Gandhi National Open University

घृताची स्थो धुर्यौ पातं सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम्।
यज्ञ नमश्च त उप च यज्ञस्य शिवे संतिष्ठस्व स्विष्टे मे संतिष्ठस्व।।[20]

प्रस्तुत मन्त्र के पूर्वार्ध के प्रथम पद 'घृताची=घृतमंचितं यस्यां सा' में पूर्वपद 'घृत' के द्वितीया विभक्ति में होने के कारण यहाँ मत्वर्थक समास है।

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः।।[21]

प्रस्तुत मन्त्र के उत्तरार्ध के 'वसुश्रवाः=वसुना श्रवः यस्य असौ' में पूर्वपद 'वसु' तृतीया विभक्ति में प्रयुक्त है। इसके साथ ही 'व' पर उदात्त भी है।

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभि गृणन्तु देवाः।
स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणायजस्वाग्निनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा।।[22]

प्रस्तुत मन्त्र के उत्तरार्ध के 'स्तोमपृष्ठा=स्तोमानां पृष्ठं यस्याः सा' में पूर्वपद 'स्तोम' षष्ठी विभक्ति में प्रयुक्त है तथा 'तो' पर उदात्त स्वर भी है।

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ।
मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षांसि प्रहेतिस्तेभ्यो
नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां
जम्भे दध्मः।।[23]

प्रस्तुत मन्त्र के 'रथेचित्रः=रथे चित्राणि यस्य सः' में पूर्वपद 'रथे' सप्तमी विभक्ति में प्रयुक्त है तथा उसका लोप भी नहीं हुआ है और 'र' पर उदात्त स्वर भी है।

षष्ठी तत्पुरुष पर आधारित बहुव्रीहि में पूर्वपद का अभिप्राय प्रायः तुलना का होता है, किन्तु विभक्ति का अलुक् नहीं होता-

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ।
पुंजिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः
पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु
ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः।।[24]

प्रस्तुत मन्त्र के 'सूर्यरश्मिः=सूर्यस्य रश्मयः इव रश्मयः यस्य सः' में पूर्वपद षष्ठ्यन्त है, जिसका अभिप्राय तुलना का है, परन्तु 'हरिकेशः=हरितवर्णाः केशा इव केशाः यस्य सः' षष्ठ्यन्त नहीं है, परन्तु उसका अभिप्राय भी तुलना का ही है और दोनों पदों के पूर्वपद पर उदात्त भी मिलता है तथा इन पदों में क्रमशः 'रश्मयः' और 'केशाः' का लोप होने से इसे मध्यमपदलोपी बहुव्रीहि भी कहा जा सकता है।

बहुव्रीहि उस समय विशेष्य के रूप में भी होता है, जब उनका समानाधिकरण नामपद लुप्त रहता है-

©Indira Gandhi National Open University

महाँ2 इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः।
अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्।।[25]

प्रस्तुत मन्त्र के उत्तरार्ध के 'सुकृतः=शोभनं कृतं येन सः' में 'शोभन' पद के स्थान पर 'सु' पद का ही प्रयोग हुआ है।

अन्यवापोऽर्धमासानामृषयो मयूरः सुपर्णस्ते गन्धर्वाणामपामुद्रो
मासां कश्यपो रोहितकुण्डृणाची गोलतिका तेऽप्सरसां मृत्यवेऽसितः।।[26]

प्रस्तुत मन्त्र के 'सुपर्णः=शोभनं पर्णो यस्य सः' में भी 'शोभन' पद का लोप होकर मात्र 'सु' प्रयुक्त हुआ है।

बहुव्रीहि के उत्तरपद के कर्मन्, धामन्, नामन्, पर्वन्, वृषन्, सक्थन् आदि कुछ अन्नन्त पदों में 'न्' का साधारणतया लोप हो जाता है। 'इन्' (वाला अर्थक) प्रत्यय यदा कदा लगाया जाता है-

किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः।।[27]

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्ये अभितः सपत्ना इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु।।[28]

प्रथम मन्त्र में प्रथमा विभक्ति, एकवचन में प्रयोग होने के कारण अन्नन्त 'कर्मन्' का 'कर्मा' रूप प्रयुक्त हुआ है और द्वितीय मन्त्र में सम्बोधन एकवचन में होने के कारण 'अन्' का ही प्रयोग हुआ है।

एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भाग
इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भाग इति मे सोमाय
ब्रूताच्छन्दोनामानां साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादास्माकोऽसि
शुक्रस्ते गह्यो विचितस्त्वा वि चिन्वन्तु।।[29]

प्रस्तुत मन्त्र के 'छन्दोनामानाम्=छन्द इति नाम येषां ताः, तेषाम्' में उत्तरपद 'नामन्' का 'नाम' प्रयुक्त हुआ है।

इन सबके अतिरिक्त पूर्वपद में अभावार्थक निपात अ, अन् विशेषण के रूप में तथा उत्तरपद में विशेष्य के रूप में होता है-

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ।
मा यज्ञं हिंसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः।।[30]

प्रस्तुत मन्त्र के पूर्वार्ध के 'अरेपसौ=अविद्यमानं रेपौ ययोः तौ' पद में मध्यम पद 'विद्यमान' का लोप होकर पूर्वपद 'अ' विशेषण अभाव के अर्थ में तथा उत्तरपद 'रेपसौ' उसके विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

अष्टाध्यायीकार ने एक सूत्र के द्वारा अन्य पद के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्तों के परस्पर समास को बहुव्रीहि-संज्ञक बताया है, जो कि प्रथमा के अतिरिक्त अन्य सभी विभक्तियों के अर्थ में होता है, जिसका बोध यत् पद के यम्, येन आदि विभक्त्यन्त रूपों से होता है तथा बहुव्रीहि के दो भेद- समानाधिकरण और व्यधिकरण- बताए हैं। जब सभी में प्रथमा विभक्ति होती है, तब समानाधिकरण होता है, किन्तु जब भिन्न विभक्तियाँ होती हैं, तब व्यधिकरण

©Indira Gandhi National Open University

होता है। इसके अतिरिक्त परवर्ती वार्तिककार द्वारा बताए गए 7 वार्तिकों को उल्लिखित किया है, जिसमें से तीन वार्तिक प्रस्तुत हैं-

अनेकमन्यपदार्थे।
बहुव्रीहिः समानाधिकरणानामिति वक्तव्यः।
सप्तम्युपमानपूर्वपदलोपश्च वक्तव्यः।
नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः।[31]

<u>उपसंहार-</u> सामान्यतः वैयाकरणों द्वारा समास के चार भेद- अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि और द्वन्द्व -माने गए हैं, जिनमें तत्पुरुष का ही एक उपभेद कर्मधारय होता है। इस कर्मधारय में प्रायः दोनों पद एक ही अधिकरण को कहते हैं, परन्तु कहीं-कहीं भिन्न-भिन्न अधिकरण वाले पद भी समस्त हो जाते हैं, अतः कर्मधारय को समानाधिकरण कर्मधारय और व्यधिकरण कर्मधारय कहा जाता है। इसमें भी पूर्वपद में संख्या होने पर उसे द्विगु समास कहा जाता है। इस प्रकार सब मिलाकर समास के 6 भेद- अव्ययीभाव, तत्पुरुष, कर्मधारय, द्विगु, बहुव्रीहि, द्वन्द्व- हो जाते हैं।

उभयपदप्रधान (द्वन्द्व) समास में दो या दो से ज्यादा पद मिलकर एक हो जाते हैं और वे सब ही प्रधान होते हैं। वे या तो विशेष्य होते हैं या विशेषण। वाजसनेयि-संहिता में प्रत्येक पद विशेषण होता है, उसमें भी विशेष रूप से देवताद्वन्द्व में दोनों पद प्रायः द्विवचन में होते हैं, परन्तु अनेकत्र पूर्वपद में प्रथमा या द्वितीया विभक्ति कर प्रत्यय अपरिवर्तित रूप में ही रहता है और उत्तरपद में चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी आदि विभक्तियों का प्रत्यय आ जाता है, जैसे- अग्नीषोमाभ्याम्, अग्नीषोमयोः, द्यावापृथिवीभ्याम्, द्यावापृथिव्योः आदि।

इसके अतिरिक्त वाजसनेयि-संहिता में उभयपदप्रधान समास के अन्तर्गत ही 'माता च पिता च=मातापितरौ, मातरपितरौ, मातरा, पितरा' आदि रूप भी प्राप्त होते हैं। वेद में इसके अतिरिक्त 'द्यौ च पृथिवी च=द्यावापृथिवी, द्यावा', 'मित्रश्च वरुणश्च=मित्रावरुणौ, मित्रा' आदि रूप भी प्राप्त होते हैं।

मत्वर्थीय (बहुव्रीहि) या विशेषणात्मक समास, जिसका साधारण अर्थ तद्वत्ता होता है, में प्रायः समस्यमान पदों से भिन्न तत्सम्बद्ध किसी अन्य पद के अर्थ की ही प्रधानता होती है, इसीलिए यह पदरूप एवं पदक्रम की दृष्टि से तो कर्मधारय और तत्पुरुष के समान ही होता है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से दोनों से भिन्न होता है और यह उस अन्य पद के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त स्वर की दृष्टि से भी यह कर्मधारय और तत्पुरुष से भिन्न होता है, क्योंकि इसमें उदात्त स्वर पूर्वपद पर होता है, जबकि कर्मधारय और तत्पुरुष में उत्तरपद पर। यह भी तत्पुरुष के अनुसार समानाधिकरण और व्यधिकरण के रूप में दो प्रकार का होता है। जब समस्तपद में प्रयुक्त होने वाले समस्यमान सभी पद प्रथमा विभक्ति में हों, तब समानाधिकरण और जब उन समस्यमान पदों में भिन्न-भिन्न विभक्ति हों, तब व्यधिकरण बहुव्रीहि होता है। वाजसनेयि-संहिता में गुणवाचक विशेषण, समानाधिकरण विशेष्य, क्रियाविशेषण के पूर्वपद में होने के, पूर्वपद की उत्तरपद से तुलना के, ज्येष्ठ के उत्तरपद में विशेष्य के रूप में प्रयोग के, द्वितीयार्थक, तृतीयार्थक, षष्ठ्यर्थक, सप्तम्यर्थक पूर्वपद के, द्वितीया एवं सप्तमी के अलुक् के, उत्तरपद में कर्मन्, नामन् आदि पदों के तथा पूर्वपद में अभावार्थक नञ् के विशेषण के रूप में उद्धरण भी प्राप्त होते हैं।

<u>सन्दर्भ सूची</u>

1. वा0 प्रा0 1.27

©Indira Gandhi National Open University

2. अष्टा0 2.2.38
3. वही, 2.1.1,3
4. वा0 सं0 10.9
5. वही, 18.23
6. वही, 23.41
7. वही, 3.43
8. वही, 19.27
9. वही, 10.34
10. वही, 12.107
11. वही, 22.29
12. अष्टा0 2.2.29
13. वा0 सं0 9.23
14. वही, 9.27
15. वही, 1.14
16. वही, 12.66
17. वही, 2.20
18. वही, 33.53
19. वही, 33.50
20. वही, 2.19
21. वही, 3.25
22. वही, 14.4
23. वही, 15.16
24. वही, 15.15
25. वही, 7.39
26. वही, 24.37
27. वही, 17.18
28. वही, 17.22
29. वही, 4.24
30. वही, 5.3
31. अष्टा0 2.2.24

©Indira Gandhi National Open University